मूल सपन्न समाज

शिकारी संग्राहक समाजों के बारे में एक आम धारणा बनी रही है कि वो विपन्नता में जी रहे थे और हैं। लेकिन जिसे हम विपन्नता कह रहे हैं कहीं वो संपन्नता तो नहीं. . . ?

मार्शल साहालन्स

प्रस्तुति – सी. एन. सुब्रह्मण्यम

शिकारी-संग्राहक बमुश्किल अपनी बुनियादी ज़रूरतों को पूरा कर पाते थे और कभी-कभी नहीं भी कर पाते थे। ... उन्हें भोजन की तलाश में हमेशा घूमते रहना पड़ता था। इस वजह से उनके पास गैर बुनियादी काम करने के लिए फ़ुरसत ही नहीं थी... उनके लिए पर्याप्त उत्पादन का मतलब था किसी भी तरह जीवित रहना और उनके पास ज़रूरत से ज़्यादा सामग्री या समय दुर्लभ ही होता होगा।''*

हमारी धारणा में अमेरिका या अन्य कोई विकसित देश ही 'संपन्न समाज' कहलाने का अधिकार रखता है। अगर हम इसे संपन्नता मानते हैं तो शिकारी-संग्राहक समाज विपन्नता का चरम उदाहरण है।

शिकारी-संग्राहकों के बारे में आम लोग ही नहीं, इतिहासकार और अर्थशास्त्री क्या सोचते हैं इसका कुछ अंदाज़ा हम पाठ्यपुस्तकों से लगा सकते हैं। अगर हम इन पुस्तकों की बात मानें तो लगेगा कि ये लोग हमेशा विनाश की कगार पर खड़े थे। दरअसल सवाल यह नहीं बनता कि ये लोग कैसे जी लेते थे बल्कि यह कि क्या ये भी कोई जीवन था? इन पुस्तकों से

* शिकारी-संग्राहक समाज वे लोग जो खेती या पशुपालन करके भोजन पैदा नहीं करते, बल्कि प्राकृतिक तौर पर उपलब्ध जीव-जंतुओं-पौधों से भोजन जुटाते हैं।

अफ्रीका के एक शिकारी-संग्राहक समाज (बुशमैन) का, शिकार पर निकला एक युवक प्यास बुझाते हुए।

यही आभास होता है कि शिकारी लोग हमेशा भुखमरी के साए में रहते थे; उनकी तकनीकी कुशलता इतनी निम्न स्तर की थी कि उन्हें पेट भरने के लिए सतत प्रयास करते रहना पड़ता था – फिर संस्कृति के निर्माण के लिए उनके पास फुरसत कहां!

लेकिन अगर आप वास्तविकता का अध्ययन करें तो एक विपरीत बात उभरती है – शिकारी-संग्राहक समाज 'मूल' संपन्न समाज था! यानी उस समाज के सभी लोगों की भौतिक ज़रूरतें आसानी से पूरी हो जाती थीं।

अर्थशास्त्री यह मानते हैं कि मनुष्य

की ज़रूरतें असीम हैं और साधन सीमित हैं। यानी उसकी ज़रूरत और उत्पादन के बीच अंतर से तय होता है कि वह समाज संपन्न है कि विपन्न। इस दूरी को दो तरीकों से पाटा जा सकता है – उत्पादकता और उत्पादन को बढ़ाकर या ज़रूरतें सीमित रखकर। बाज़ार पर आधारित अर्थव्यवस्थाएं पहले मार्ग को अपनाती हैं, जबकि शिकारी-संग्राहक जैसे समाज दूसरे को। शिकारी लोग इस तरीके के सहारे अतुल्य संपन्नता हासिल कर पाए। अगर हम इस बात को समझें तो शिकारियों के विचित्र से व्यवहार को समझ सकते हैं। जैसे कि उनके पास किसी भी समय जो भी खाद्य सामग्री है वे उसे खाकर खतम कर देते हैं। उनके मन में कल के लिए या बुरे दिनों के लिए बचाकर रखने का ख्याल ही नहीं उठता है – साधन की प्रचुरता होने पर ही ऐसा व्यवहार संभव है।

दरअसल शिकारियों के बारे में बनी धारणाओं के पीछे बाज़ार आधारित अर्थव्यवस्था के ही हमारे अनुभव हैं। इस व्यवस्था में किसी भी व्यक्ति के समक्ष चकाचौंध कर देने वाली उपभोग की चीज़ों की एक भरमार है, उसे उनमें से चुनना है कि वह किसे खरीदेगा और किसे नहीं। जब भी वह किसी एक चीज़ को खरीदेगा तो उसे अन्य चीज़ों को त्यागना होगा – क्योंकि खरीदने के उसके साधन सीमित हैं। यानी किसी चीज़ को पाने की खुशी के साथ किसी और चीज़ को न पाने का दुख भी इस व्यवस्था में निहित है। जब इस मानसिकता के साथ हम शिकारी मानव को देखते हैं, हमें उन पर दया आती है। हम मान लेते हैं कि उनकी चाहत हमारी जैसी ही है – ऐसी चाहत निश्चित ही पत्थर के औज़ारों से पूरी नहीं हो सकती है। इसलिए हम निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि उनका जीवन दरिद्रतापूर्ण रहा होगा।

मगर हम भूल जाते हैं कि कमी, किसी तकनीक से जुड़ी हुई नहीं है। अगर शिकारी लोग सीमित उद्देश्यों के लिए जीना चाहते हैं तो तीर कमान और टोकरी उन उद्देश्यों के लिए पर्याप्त हैं।

जिन लोगों ने वर्तमान में मौजूद शिकारी समूहों का अध्ययन किया – और वे उनके जीवन को नहीं समझ सके – उन्होंने यह विचार फैलाया कि वे भुखमरी से मर रहे हैं। उदाहरण के लिए यूरोप के लोग जो गेहूं की रोटी, कुछ सीमित सब्ज़ियां और गोश्त खाने के आदी हैं, शिकारियों के भोजन को कभी नहीं समझ पाए। उनके भोजन में अपार विविधता थी – वे तरह-तरह के बीज, फल, कीड़े मकोड़े, कंद, फूल, पत्ती, पक्षियों व जानवरों का गोश्त और न जाने क्या-क्या खाते थे – विवश होकर नहीं, बल्कि शौक से।

!कुंग बुशमैन का पड़ाव

के आदिवासियों को एक कप्तान ने देखा कि वे समय-समय पर एक खास पेड़ की गोंद इकट्ठा करके खाते थे; उसने लिखा, "बेचारे इतने दयनीय हालात में थे कि उन्हें कोई और पोषण नहीं मिल पाया और वे इस गोंद को खाने पर विवश हुए।" लेकिन 1841 में एक अन्य यात्री ने लिखा कि यह गोंद यहां के लोगों का एक प्रिय भोजन है।

गोंद लगने के मौसम में वे सब एक जगह इकट्ठा होकर इसे बटोरते हैं। इस बहाने उन्हें आपस में मिलने और बतियाने का मौका भी मिल जाता है। वह यह भी लिखता है, "... यहां का आदिवासी बखूबी समझता है कि उसके क्षेत्र में क्या, कहां और किस मौसम में होता है। वह इन चीज़ों को पाने का सबसे आसान तरीका भी जानता है। अतः वह अपने इलाके का भ्रमण इस प्रकार करता है कि उन चीज़ों को आसानी से हासिल कर सके। मैंने हमेशा उनके झोपड़ों में खाद्य सामग्री की भरमार ही देखी है।"

"एक तरह की भौतिक विपुलता"

दक्षिण अफ्रीका के कालाहारी रेगिस्तान में कुंग लोग रहते हैं। उनके भोजन के अलावा अन्य भौतिक ज़रूरतों के बारे में श्रीमती मार्शल कहती हैं, "सब के पास सारी चीज़ें हैं, और ज़रूरत पड़ने पर कोई भी इन्हें आसानी से बना सकता है। ... वे एक प्रकार की भौतिक विपुलता में जी रहे हैं। उनकी ज़रूरत की चीज़ें उन चीज़ों से बनती हैं जो उनके चारों ओर प्रचुरता से उपलब्ध हैं। कोई भी कितनी भी मात्रा में उनका उपयोग कर सकता है – लकड़ी, बेंत और हड्डियां जिनसे वे अपने औज़ार बनाते हैं; रस्सियों के लिए रेशे, झोंपड़ियों के लिए घास-फूस। शुतुरमुर्ग के अंडों के छिलकों से कुंग महिलाएं अपने लिए मनकों की मालाएं बना लेती हैं। वे

अंडों के इन खोलों को पानी भरने के लिए भी उपयोग करती हैं। ये खोल भी हर महिला के लिए पर्याप्त संख्या में मिल जाते हैं। आखिर वे केवल 10-12 बर्तन ही तो उठाकर चल सकती हैं। उनके घुमक्कड़ जीवन में उन्हें भोजन और पानी के लिए एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहना पड़ता है – तब उन्हें अपने सब सामान व छोटे बच्चों को उठाकर चलना पड़ता है। चारों ओर ज़रूरी सामग्री की प्रचुरता को देखते हुए कुंग लोगों ने भंडारण की व्यवस्था विकसित नहीं की है। न ही वे किसी चीज़ का दूसरा नग रखते हैं। वे किसी-किसी चीज़ का एक नग भी नहीं रखना चाहते – हो सके तो दूसरे से उधार ले लेते हैं। ऐसे में जमाखोरी और खूब सारी चीज़ों को इकट्ठा करना उनके लिए जीवन स्तर का द्योतक नहीं बना है।"

श्रीमति मार्शल के इस अवलोकन की पुष्टी दूसरे शिकारी समाजों के अध्ययन-कर्ताओं ने भी की है। यह देखा गया है कि किसी भी प्रकार की धन दौलत घुमक्कड़ जीवन में एक बाधा ही है। इस कारण ज़्यादातर शिकारी लोग कम सामान रखना पसंद करते हैं। यह भी देखा गया कि जो भी सामान उनके पास है उसका रख रखाव या हिफाज़त भी वे ठीक से नहीं करते हैं। वे उनके प्रति अति उदासीन हैं।

आधुनिक अर्थशास्त्र का पहला कथन कि मनुष्य की ज़रूरतें अनगिनत हैं और साधन सीमित हैं – शिकारी-संग्राहक समाज के संदर्भ में यह कथन बिलकुल उल्टा हो जाता है; उनकी ज़रूरतें सीमित हैं और साधन असीम हैं। यह इसलिए नहीं कि उन्होंने सामान्य रूप से उठने वाली ज़रूरतों व इच्छाओं को काबू किया, बल्कि इसलिए कि ये ज़रूरतें व इच्छाएं उठी ही नहीं। हम उन्हें गरीब या बेचारे कहने के आदी हो गए हैं, केवल इसलिए कि उनके पास धन दौलत कम है। शायद हमें यह सोचना चाहिए कि धन दौलत की कमी के कारण वे ज़्यादा आज़ाद हैं। इस वजह से वे जीवन का भरपूर आनंद ले पाते हैं।

बुनियादी ज़रूरतें – खान पान

काफी समय से नृतत्वशास्त्रियों (Anthropologists) की धारणा रही है कि शिकारी-संग्राहकों की स्थिति इस कदर दयनीय थी कि वे हमेशा भुखमरी की कगार पर थे; अपनी बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने में ही उनका पूरा समय निकल जाता था। लेकिन आज हम यह कह सकते हैं कि शिकारी- संग्राहक हम से कम काम करते हैं। भोजन बटोरने का काम लगातार न होकर थोड़े-थोड़े समय का होता है जिसके बीच में आराम का पर्याप्त समय होता है। किसी अन्य समाज व्यवस्था की तुलना में वे दिन में अधिक समय सो

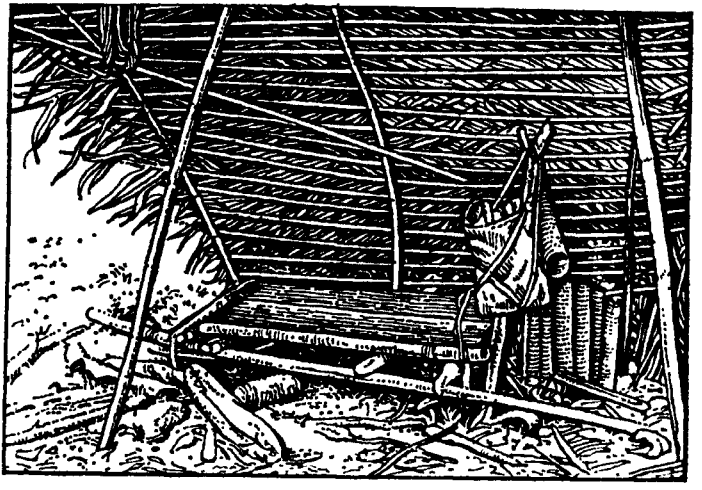

बुशमैन लोगो की एक झोंपड़ी के अंदर का दृश्य

पाते हैं। इस नई धारणा का सबूत वर्तमान शिकारियों के अध्ययन से मिलता है।

1960 में ऑस्ट्रेलिया के दो शिकारी-संग्राहक समूहों का विधिवत अध्ययन मेककार्थी और मेक आर्थर ने किया था। पहले समूह का चौदह दिन अवलोकन हुआ। महिलाएं और पुरुष रोज़ औसतन कितने घंटे काम करते हैं इसका ब्यौरा देखिए:

दिन		1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14
घंटे	म	7	3	0	7	6 5	1	4 5	5	6	4.5	0	6 5	7 5	.5
	पु	5	6 5	0	3 5	6 5	6	4 5	5	5	4 5	3	3.5	3 5	2

औसत दैनिक काम:

पुरुष: तीन घंटे 50 मिनट

महिला: तीन घंटे 44 मिनट

(एक और उदाहरण में औसत काम का समय पांच घंटे था।)

इस 'काम' में शिकार बटोरना, कूटना, पीसना, पकाना और औज़ार तैयार करना शामिल था।

इस अध्ययन से यह तो स्पष्ट हुआ कि इन लोगों को बहुत मेहनत नहीं

करनी पड़ती है। दूसरी यह कि उन्हें लगातार काम करते नहीं रहना पड़ता है। कुछ देर काम करने पर इतना भोजन इकट्ठा हो जाता है कि इसके बाद काफी समय उन्हें काम करने की ज़रूरत नहीं पड़ती है।

ऐसे में एक तीसरी दिलचस्प बात भी उभरती है – शिकारी लोग मौजूद आर्थिक संभावनाओं का पूरा उपयोग नहीं करते। मेक आर्थर कहते हैं, "शिकारी समूह एक दिन में जितना भोजन संग्रह करते हैं वे उससे कहीं ज़्यादा तादाद में कर सकते थे। महिलाएं हालांकि लगभग हर दिन संग्रहण का काम करती थीं, लेकिन वे बार बार आराम करने बैठ जाती थीं और पूरे दिन संग्रहण में नहीं लगी रहती थीं। पुरुष अगर एक दिन शिकार मारने में सफल हो जाते तो दूसरे दिन आराम फरमाते।" वे लोग जो भोजन खाते थे वह न केवल पर्याप्त था बल्कि विविधता पूर्ण था।

अंत में इस अध्ययन से यह बात भी उभरती है कि इन शिकारी लोगों के पास काफी फुरसत होती थी। यह उस धारणा के विपरीत है कि शिकारियों के पास फुरसत ही नहीं होती कि वे अपनी संस्कृति को विकसित कर पाएं। पाया गया कि, "गप शप के अलावा ये लोग दिन में कुछ घंटे ज़रूर सोते हैं। अगर पुरुष डेरे पर होते तो भोजन के बाद एक डेढ़ घंटे ज़रूर सोते। अकसर डेरे पर वे दिन भर सोते रहते थे।" यानी उनके पास फुरसत की कमी नहीं थी।

कुछ इसी तरह का अध्ययन रिचर्ड ली ने कलाहारी के कुंग शिकारियों के बारे में किया।

ली बताते हैं कि इस समूह में 35% लोग कोई काम नहीं करते (बच्चे आदि) और 65% लोग केवल 36% समय काम करते थे।* यानी प्रत्येक वयस्क हफ्ते भर में 15 घंटे ही काम करके खुद का और लगभग एक और इंसान का भरण पोषण कर लेता था। ली का वर्णन देखिए – "एक महिला एक दिन में अपने परिवार के लिए तीन दिनों का भोजन संग्रहित कर लेती है। बाकी समय वह अपने डेरे में आराम करती है, कढ़ाई करती है, दूसरों से मिलने जाती है या मेज़बानी करती है। रोज़ खाना पकाने, लकड़ी लाने आदि कामों में दो तीन घंटे लगते हैं। इस तरह रोज़ 'कुछ काम, बाकी आराम' की उनकी दिनचर्या साल भर चलती रहती है। पुरुषों का सिलसिला कुछ फर्क होता है। वे एक हफ्ता लगकर शिकार करते हैं और फिर दो तीन हफ्ते कोई शिकार नहीं करते। शिकार किस्मत की बात होती है – अगर उन्हें लगे कि किस्मत ठीक नहीं है तो कई महीने वे शिकार पर नहीं जाते। उन दिनों उनका प्रमुख काम मेहमानी, मेज़बानी और नाच गान होता है।

* एक दिन का अर्थ है लगभग छ –सात घंटे का काम।

ली कहते हैं कि यहां के लोगों की भोजन की रोज़ाना ज़रूरत औसतन 1975 कैलोरी है; जबकि उनका दैनिक उत्पादन 2140 कैलोरी है। यानी उनकी ज़रूरत से अधिक भोजन उनके पास उपलब्ध रहता है।

जब इन लोगों से पूछा गया कि वे खेती क्यों नहीं करते – वे कहते हैं, "हम पौधे क्यों लगाएं जब दुनिया में इतने सारे मोंगोमोंगो मेवे पड़े हुए हैं?"

अगर हम इस बात को समझें कि शिकारी, प्रकृति की विपुलता पर भरोसा करते हैं – मनुष्य के साधनों की कमी पर रोते नहीं रहते – तो हम उनके अन्य व्यवहारों को भी समझ पाएंगे।

– यह समय-समय पर देखा गया है कि जब वे एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं तो किसी जल्दी में नहीं रहते, आराम से टहलते-टहलते रुक-रुक कर जाते हैं। वे ज़रूर भोजन की तलाश में एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं, लेकिन दूसरी जगह भोजन मिलेगा इस बात का उन्हें भरोसा रहता है। इसलिए वे निश्चिंत होकर पिकनिक की मानसिकता लेकर चलते हैं।

– यह भी देखा गया है कि शिकारी लोग भविष्य के लिए योजना नहीं बनाते – आज जितना भोजन उपलब्ध है उसे वे पूरा खा लेते हैं। उन्हें यह चिंता नहीं कि कल अगर शिकार न मिले तो क्या होगा। न ही वे भोजन को बुरे समय के लिए जमा कर के रखते हैं। भोजन सामग्री को जोड़कर रखा जा सकता है, वे ज़रूर इस बात को जानते होंगे। लेकिन वे ऐसा नहीं करते हैं। शायद इसका एक कारण यह है कि भण्डारण से वे एक ही जगह रहने पर विवश होंगे जिसकी वजह से उन्हें उस क्षेत्र का अति-दोहन करना पड़ेगा। इससे वहां की विपुलता खतम हो जाएगी। इससे अच्छा होगा कि वे दूसरी जगह चले जाएं। आखिर प्रकृति ने उनके लिए इतना बड़ा भंडार जो बना रखा है!

दूसरी बात यह है कि शिकारियों की सामाजिक परंपराओं के अनुसार मिल बांटकर खाना अनिवार्य है। अगर ऐसा नहीं करें तो उसे हेय दृष्टि से देखा जाएगा। अगर अपने भंडार को सब में बांटना ही है तो भंडार बनाया ही क्यों जाए?

यानी तकनीकी रूप से भंडारण संभव होते हुए भी आर्थिक दृष्टि से यह उपयुक्त नहीं है और सामाजिक दृष्टि से संभव नहीं है।

तो फिर शिकारी-संग्राहक जीवन

की सीमाएं क्या हैं? पहली सीमा तो यह है कि वे हमेशा 'घटता लाभ' वाले नियम से बंधे हैं। एक जगह शुरू में आसानी से पर्याप्त भोजन मिल सकता है, लेकिन वहीं लगातार रहते जाएं तो यह भोजन घटता जाएगा। अगर इसके बावजूद वे वहां रहते रहना चाहते हैं तो उन्हें या तो कम में काम चलाना पड़ेगा या फिर ज़्यादा मेहनत करनी पड़ेगी। ऐसे में बुद्धिमानी इसी में है कि वे दूसरी जगह चले जाएं।

यानी चलते रहने से ही यह विपुलता बनी रह सकती है। इससे और बातें भी तय हो जाती हैं। पहली तो यह कि वे कम-से-कम सामान अपने पास रखें, ताकि यात्रा सरल रहे। दूसरी बात, उन्हें अपने समूह में ऐसे लोगों की संख्या कम रखना पड़ती है जो खुद से चल फिर नहीं सकते हैं। बच्चे, बूढ़े आदि। अक्सर ऐसे लोगों को मरने के लिए छोड़ना पड़ता है।

हर समाज में अपनी ज़रूरतों व सीमाओं के अनुरूप जनसंख्या को निर्धारित करने के तरीके होते हैं। हर समाज के लिए जनसंख्या की सीमा अलग होती है, और उसे उस सीमा के अंदर रखने के तरीके भी अलग-अलग होते हैं। भोजन बटोरने वालों में 'जनसंख्या कारक' इस बात से तय होता है कि एक क्षेत्र का दोहन बढ़ाने से वहां का उत्पादन घटता जाएगा। इस लिए न केवल जनसंख्या को सीमित रखना होता है बल्कि उसे घुमक्कड़ जीवन के लिए तैयार भी रखना पड़ता है। इसी कारण शिकारी-संग्राहकों में शिशु हत्या, वृद्ध हत्या, बच्चों को लंबे समय तक मां का दूध पिलाना, उस अवधि के दौरान यौन संबंधों का निषेध आदि प्रथाएं पाई जाती हैं। शिकारी लोग अक्सर अफसोस के साथ बताते हैं कि वे लोग जो खुद यात्रा करने में सक्षम नहीं होते, वे ही मौत का शिकार होते हैं।

अंत में

अर्थव्यवस्था के विकास में बुनियादी विरोधाभास है, जिससे समाज एक साथ संपन्न और विपन्न दोनों बनता है। तकनीकी के विकास से साधन और उत्पादन बेहद बढ़ा है। इस कारण मानव समाज का अपने पर्यावरण पर नियंत्रण बढ़ा है। इससे एक स्थिरता आई है।

इन तकनीकों के साथ और उनकी मदद से ऐसे सामाजिक ढांचे बने हैं जिनके कारण धन कुछ लोगों के पास है और अधिकांश लोगों के पास निर्धनता है। शिकारियों के पास साधन कम हैं लेकिन वे गरीब नहीं हैं। गरीबी का ताल्लुक सामान की मात्रा से नहीं है – बल्कि वह लोगों के बीच एक रिश्ता है। गरीबी एक सामाजिक रिश्ता है। वह सभ्यता की देन है।

मार्शल माहलिन्स की पुस्तक '*स्टोन एज इकोनोमिक्स*' में छपे लेख 'द ओरिजिनल अफलुयेन्ट सोसायटी' पर आधारित।